वैश्विक प्रतिस्पर्धा के लिए भारतीय बैंकों की तैयारी: रणनीतिक और नीतिगत परिप्रेक्ष्य *

सुबीर गोकर्ण

प्रस्तावना

यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि संकट के बाद वित्तीय जगत एक ऐसा स्थल होता है जो बेहद अलग प्रतीत होता है। कई ऐसे प्रस्तावों पर अब प्रश्नचिह्न लगाए जाने लगे हैं जिन्हें उक्त घटना घटित होने के पहले यूं ही मान लिया जाता था। इनमें से एक निश्चय ही उन बातों से संबंधित है जो बैंकों को विश्व स्तर पर प्रतिस्पर्धी बना देती हैं। संकट से कई साल पहले बहुराष्ट्रीय वित्तीय निगमों की बढ़ती दृश्यता और प्रधानता ने इस धारणा के निर्माण में योगदान किया है कि इस क्षेत्र में सफलता का सूत्र पहले ही खोजा जा चुका है तथा उस पर अधिकार किया जा चुका है। प्रतिस्पर्धात्मक लाभ का लक्ष्य हासिल करने और उसे बनाए रखने का सबसे प्रभावी तरीका स्पष्ट तौर पर इस प्रकार था - विशाल आकार, वित्तीय गतिविधियों के पूरे स्पेक्ट्रम - मध्यस्थता, निवेश और बीमा - में विस्तृत विशाखीकरण और बड़े आर्थिक प्रोत्साहनों के साथ वैश्विक उपस्थिति।

उक्त संकट ने व्यष्टि और समष्टि दोनों स्तरों पर इस मॉडल की धारणीयता के बारे में स्पष्ट रूप से गंभीर सवाल खड़े कर दिए हैं। यह प्रतीत होता है कि व्यावसायिक मॉडलों के साथ तेज वृद्धि और व्यापक विशाखीकरण ने स्वयं संकट को लाने और इससे निपटने के लिए सरकारों द्वारा विवश होकर अपनाए गए तरीके दोनों में काफी अहम भूमिका निभायी है। पहली बात, यह प्रदर्शित होता है कि सबसे बड़े अमरीकी और यूरोपीय बैंकों की संवृद्धि और उनके विविधीकरण के साथ जो जोखिमें - तुलनपत्र पर एवं तुलनपत्र-बाह्य - संचित हुईं, उन जोखिमों की पहचान और उनके शमन के लिए तुल्य क्षमताएं मौजूद नहीं थीं। दूसरी ओर, 'इतना बड़ा कि विफल नहीं हो सकता' शब्दावली से सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। वित्तीय संस्थाओं के आकार के एक सीमा से बड़ा हो जाने पर, उनके पतन का शेष वित्तीय प्रणाली एवं वास्तविक अर्थव्यवस्था पर गंभीर परिणाम, देशी

* * 'वैश्विक बैंकिंग : निदर्शनात्मक बदलाव' विषय पर फिक्की-आइबीए द्वारा आयोजित सम्मेलन में 9 सितंबर 2010 को डॉ. सुबीर गोकर्ण, उप गवर्नर, भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा प्रस्तुत मुख्य भाषण। इस भाषण को तैयार करने में श्री बी. एम. मिश्रा, डॉ. हिमांशु जोशी, डॉ. शरत धल और श्री धीरेन्द्र गजभिये के अंशदान को साभार स्वीकार किया जाता है।

और अंतरराष्ट्रीय दोनों स्तरों पर, हो सकता है। कोई भी सरकार इस तरह की घटना को बर्दाश्त नहीं कर सकती तथा वह बाज़ार अनुशासन के बुनियादी पहलुओं के विरुद्ध जाकर संस्था को बचाने के लिए विवश होगी।

जाहिर है, बैंकों को प्रतिस्पर्धी बनाने के विभिन्न कारकों के लिए इस संकट और इसके समाधान के लिए किए जा रहे प्रयासों से कई सबक मिलते हैं। वे प्रतिस्पर्धात्मकता के निजी या रणनीतिक आयामों तथा उसके 'सार्वजनिक' या नीतिगत आयामों के बीच अंतर्निहित तालमेल को भी स्पष्ट करते हैं। इस चर्चा में, मैं बैंक प्रतिस्पर्धात्मकता का एक सरल ढांचा निर्धारित करूंगा तथा उनके रणनीतिक और नीतिगत अभिप्रायों की तलाश करूंगा। मुझे उम्मीद है कि यह आगे होने वाली पैनल चर्चा के लिए एक उपयोगी निविष्टि का काम करेगा।

प्रतिस्पर्धात्मकता के अवधारक

पैमाने को आम तौर पर सबसे महत्वपूर्ण नहीं तो बैंक प्रतिस्पर्धात्मकता के प्रमुख निर्धारक के रूप में देखा गया है। भारतीय संदर्भ में, बैंकिंग क्षेत्र में सुधार की कोई चर्चा समेकन के संदर्भ के बिना पूरी नहीं मानी जाती है, जिससे सामान्यतया दो अपेक्षाकृत छोटे बैंकों के बीच या एक बड़े, सुदृढ़ माने गए और एक छोटे, कमज़ोर माने गए बैंक के बीच विलय अभिप्रेत है। जबकि शायद पैमाने की उपलब्धि को प्रतिस्पर्धात्मकता के लिए चांदी के चम्मच (सिल्वर बुलेट) के रूप में देखना आकर्षक होगा, पर घरेलू और वैश्विक दोनों सबूत इसके लिए स्पष्ट मामला तैयार नहीं करते। शुरू में अपने अभिमत की ओर वापस जाने पर, हम पाएंगे कि बड़े बैंक अत्यधिक असुरक्षित हो सकते हैं यदि उनके विस्तार की रणनीतियां जटिल जोखिम उठाने पर आधारित हों। भारतीय संदर्भ में, इस बात के पर्याप्त सबूत हैं, जिनमें से कुछ हमारे सहयोगियों ने अपने अनुसंधान कार्य में प्रस्तुत किया है, कि पैमाने तथा दक्षता अथवा कार्य-निष्पादन के बीच कोई स्पष्ट संबंध नहीं है। विभिन्न देशों के बीच तुलना करने पर, चीन तथा भारत के पांच सबसे बड़े बैंकों की सामान्य तुलना से ये संकेत मिलते हैं कि जहां पहले वाले देश के बैंक तुलनपत्र में दूसरे वाले देश के बैंकों के आकार से कई गुना बड़े हैं, यह स्पष्ट तौर पर दक्षता एवं कार्य-निष्पादक संकेतकों में किसी उल्लेखनीय अंतर की ओर नहीं ले जाता।

मेरे पास सभी सबूतों का ब्यौरेवार उल्लेख करने का समय नहीं है, परंतु मुझे यह प्रतीत होता है कि इससे प्रतिस्पर्धात्मकता के प्रति एक-आयामीय दृष्टिकोण के बारे में सवाल अवश्य पैदा होते हैं। पैमाने का महत्व हो सकता है, परंतु यह अपने आप में वांछित परिणाम की गारंटी देने के लिए पर्याप्त नहीं है। अतः आइए, हम उन अन्य कारकों की तलाश करें जिनका महत्व है तथा ऐसा करते समय प्रतिस्पर्धात्मकता की रणनीति वाले घटकों को एकत्र करें।

मैं तीन और कारकों का उल्लेख करूं गा। पहला, 'व्याप्ति' एक मुद्दा है। संकट ने सार्वभौमिक बैंकिंग संबंधी हाल की प्रवृत्ति की तुलना में संकीर्ण बैंकिंग की गुणवत्ता के बारे में समय-समय पर चल रहे बहस को पुनर्जीवित कर दिया है। प्रश्न यह है कि यह सृष्टि कितना व्यापक तथा समावेशक है? वस्तुतः सभी बड़े बैंकों ने, चाहे वे देशी हों या बाहर के, बैंकिंग की परंपरागत सीमाओं के परे जाकर भलीभांति विशाखीकरण किया है। इस रणनीति में स्पष्ट तौर पर इस दृष्टिकोण से गुण दिखाई देंगे कि उसे मैं ग्राहक की जरूरत पूरी करने के लिए 'जीवनचक्र' दृष्टिकोण का नाम दूंगा। जैसे-जैसे एक विशेष वर्ग के ग्राहक की अपेक्षाएं अधिक जटिल हो जाती हैं, वैसे-वैसे दी जानेवाली सेवाओं का दायरा बढ़ाकर दोनों पक्षकारों को मूल्य का दोहन करना चाहिए। यह दलील परंपरागत

बैंकिंग की सीमाओं से बाहर जाने के अभियान को स्पष्ट तौर पर उचित ठहराती है, जो अन्यथा ग्राहकों की जरूरतें इन सीमाओं के बाहर होने पर उन्हें अलग कर सकती थी।

तथापि, संकट के उभरने के साथ बातें वस्तुतः काफी बढ़ सकती हैं। जैसे-जैसे बैंकों के कामकाज का दायरा निवेश बैंकिंग के क्षेत्र की ओर बढ़ा, जिसमें उन्होंने ऋण अथवा चूक संबंधी जोखिम की परंपरागत मान्यता का मिश्रण बाजार जोखिम जैसे नए तत्व के साथ किया, वैसे-वैसे जोखिम पर निगरानी रखने तथा संरक्षण के लिए अभिकल्पिक आंतरिक और बाह्य प्रक्रियाएं स्पष्टतः कम पड़ गईं। यह मुद्दा भी एक बड़ी बहस को जन्म देगा, अतः मैं कुछ बातों पर बल देकर आगे बढ़ता हूं। मेरा पहला निहितार्थ यह होगा कि पैमाने का लक्ष्य इस तरह से प्राप्त करना, जिससे आस्तियों के जोखिम आधार में काफी वृद्धि होती है, प्रत्युत्पादक हो सकता है। यह भले ही बैंकिंग 101 कहला सकता है, परंतु इसे भुला दिया गया प्रतीत हो रहा है। दूसरी बात यह है कि पैमाने के चालकों के साथ जोखिम प्रबंधन की क्षमताओं में आनुपातिक विस्तार अवश्य होना चाहिए। यदि इसका सावधानीपूर्वक अनुसरण किया जाए, तो विस्तार की विशिष्ट रणनीतियां अधिक खर्चीली, तथा इसलिए आकर्षणहीन हो सकती हैं, जो विवेकपूर्ण विनियमन की दृष्टि से एक अच्छी बात होगी।

यह मुझे दूसरे कारक की ओर ले जाता है, जिसे मैं 'विवेक' का नाम दूंगा। बहुत स्पष्ट तौर पर बैंकों की सभी तरह की जोखिमों की पहचान करने, उनको मापने तथा उनके लिए प्रावधान करने की योग्यता को अब अस्तित्व में बने रहने के लिए एक महत्वपूर्ण अंशदाता के रूप में देखा जाना चाहिए। निःसंदेह, पुनर्जीवन की रणनीति पहले बनाए बिना प्रतिस्पर्धा की रणनीति का कोई माइने नहीं है। इस आयाम का समाधान दो तरीकों से करने की जरूरत है। पहला, बैंक जिस तरह के एक्सपोजर ले सकते हैं उन पर या तो स्वतःआरोपित अथवा विनियमन द्वारा अधिदिष्ट प्रतिबंध हो सकते हैं। दूसरा, जोखिम प्रबंधन क्षमताओं के बारे में पहले के बिन्दुओं की ओर जाने पर, इन्हें अपरिहार्य घटक के रूप में देखे जाने की जरूरत है, अतः किसी कारोबारी रणनीति में यह लागत का एक तत्व है। उचित रूप से मूल्यांकन करने पर इस निविष्टि से उस समय प्रतिलाभ की आंतरिक दर (आइआरआर) के परिकलन संबंधी विकृतियां कम होंगी जब प्रबंधन द्वारा वैकल्पिक कारोबारी एवं विस्तारपरक रणनीतियों का मूल्यांकन किया जा रहा हो। यदि इस विकृति की मात्रा अधिक हो, तो संकट से हमें यह पता चलता है कि पुनर्जीवन खतरे में है।

तीसरा, 'जानकारी' एक मुद्दा है। विभिन्न प्रकार की व्याख्याएं इस समावेशन संकल्पना से जोड़ी जा सकती हैं तथा शायद वे सब उस समय सुसंगत होंगी जब हम जानकारी को बैंकिंग में प्रतिस्पर्धात्मक लाभ के एक स्रोत के रूप में देखें। एक पहलू स्पष्ट तौर पर प्रौद्योगिकी चालू करने से संबद्ध है, दूसरा कर्ज के मूल्यांकन, जोखिम प्रबंधन तथा अन्य कार्यकलापों में सर्वोत्तम प्रथाओं के लक्ष्य की प्राप्ति से जुड़ा है, विशेष रूप से जानकारी एवं निर्णय की गुणवत्ता के उस संदर्भ से, जिसे निधियों के आबंटन पर लाया जाता है।

जानकारी का एक महत्वपूर्ण आयाम पैमाने संबंधी बहस से जुड़ा है। 1990 के दशक के आरंभ में, पहली नरसिंहम समिति ने घरेलू बैंकिंग क्षेत्र के लिए त्रिस्तरीय संरचना की परिकल्पना की, जिसमें निम्नतम स्तर में अपेक्षाकृत छोटे, क्षेत्रीय तौर पर फोकस करने वाले बैंक शामिल थे। इसके पीछे अंतर्निहित तर्क यह था कि इस प्रकार के बैंक पैमाने के अभाव की क्षतिपूर्ति स्थानीय स्थितियों की घनिष्ट जानकारी तथा उनके बारे में अंतर्दृष्टि से कर सकते हैं। इसकी मदद से वे अपने

ग्राहकों की जरूरतें पूरी कर सकते हैं तथा जोखिमों का प्रबंधन अधिक दक्षतापूर्वक कर सकते हैं। हाल ही में, प्रोफेसर रघुराम राजन की अध्यक्षता में गठित वित्तीय क्षेत्र सुधार संबंधी समिति में ठीक उन्हीं आधारों पर स्थानीय क्षेत्रीय बैंकों को प्रोत्साहित करने का मामला उठाया गया अर्थात यह कि स्थानीय संदर्भ की बेहतर जानकारी से अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर परिचालन करने में आनेवाले खर्च संबंधी नुकसान की भरपाई हो जाएगी। निःसंदेह दोनों दृष्टिकोणों में छोटे बैंकों को वित्तीय प्रणाली के तहत पूरी तरह से उपयुक्त पाया गया, जिससे दोनों को निधियां जुटाने तथा जोखिम को अंतरित करने में मदद मिलेगी। तथापि, प्रतिस्पर्धात्मकता के निर्धारण में 'स्थानीय' जानकारी के महत्व पर बल दिया गया है।

यदि हम इस दलील की व्यापक व्याख्या ग्राहकों की जरूरतों की समझ तथा कारोबारी माहौल की समझ के बीच के संतुलन के रूप में करें, तो भारतीय कारोबार का बढ़ता हुआ वैश्वीकरण स्पष्ट तौर पर भारतीय बैंकों के बढ़ते हुए वैश्वीकरण के लिए एक वाहन का प्रावधान करता है - निःसंदेह ऐसा करते समय सीमा पार के विनियामक अवरोधों को ध्यान में रखा जाना है। विकसित अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी ग्राहकों का अनुसरण बैंकों की मूल रणनीति थी; एक बार उपस्थिति दर्ज करा दिए जाने पर नए प्रकार के ग्राहकों को सेवा प्रदान कर वे स्पष्टतः अपना कारोबार बढ़ाने के तरीके ढूंढेंगे। वर्तमान वैश्विक संदर्भ में स्पष्ट तौर पर पहले की अपेक्षा अधिक प्रतिबंध हैं, जिनकी वजह से इस रणनीति की नकल करना मुश्किल हो जाता है, तथापि मूलभूत सिद्धांत आज भी वैध हैं। ग्राहकों की जरूरतों के बारे में जानकारी की त्वरित तथा विश्वसनीय रूप में अनुपूर्ति परिचालनात्मक माहौल की जानकारी से की जानी है।

संक्षेप में, मैं प्रतिस्पर्धात्मकता की रणनीति पर विचार करते समय चार कारकों पर ध्यान दूंगा; पैमाना, व्याप्ति, विवेक तथा जानकारी। उनका सापेक्ष महत्व तथा उनके बीच संतुलन पर स्पष्ट तौर पर प्रत्येक संगठन के उद्देश्यों तथा संसाधनगत बाध्यताओं का असर पड़ेगा। परंतु मेरी समझ से इससे रणनीतिक रूप में विचार करने का उपयोगी अवसर मिलता है जो संकल्पना एवं साक्ष्य दोनों में निहित है।

नीतिगत विचार

वित्तीय प्रणाली द्वारा समग्र रूप में तथा बैंकिंग प्रणाली द्वारा विशेष रूप में बाह्य क्षेत्र को जो महत्व दिया जाता है उसे देखते हुए, हम उनके नीतिगत निहितार्थों पर विचार किए बिना प्रतिस्पर्धात्मकता की रणनीतियों की बात नहीं कर सकते। मैं यहां तीन प्रकार के मुद्दों का समाधान संक्षेप में करना चाहूंगा।

पहला मुद्दा विवेक के साथ परंपरागत विनियामक चिंताओं से संबंधित है। प्रतिस्पर्धात्मकता संबंधी किसी भी अर्थक्षम रणनीति में, मैं पहले ही विवेक के लिए निजी या रणनीतिक बाध्यताओं का हवाला दे चुका हूँ। परंतु, यह इस स्थिति में स्पष्ट रूप से पर्याप्त नहीं है जिसमें संस्थाओं के बीच की अंतर-सहबद्धताएं, जिनमें से प्रत्येक में जोखिम की स्वल्प एवं नियंत्रित मात्रा रहती है, तेजी से फैलकर प्रणाली को खतरा पैदा कर सकती हैं। समष्टि विवेकपूर्ण अथवा प्रणालीगत जोखिम एक विवेकपूर्ण खतरा है तथा, अंतर्निहित अरैखिकता - पूर्ण राशि का इसके अंशों के जोड़ से अधिक होने - के कारण, इसका समाधान सिर्फ निजी अथवा संस्था-विशिष्ट उपायों से नहीं हो सकता। जिस तरह से जोखिम प्रबंधन के लिए आंतरिक क्षमताओं को विकसित करने एवं बनाए रखने की जरूरत है, इन अंतर-सहबद्धताओं को समझने की क्षमताओं, उन पर निगरानी रखे जाने तथा उनके खतरों के साकार होने के प्रति अर्थव्यवस्था के बचाव में भी आनुपातिक विस्तार होना चाहिए। इस मायने में,

विनिर्दिष्ट प्रतिस्पर्धात्मक रणनीतियों के अनुसरण की गुंजाइश संभवतः अंतर्निहित प्रणालीगत जोखिम की पहचान करने, उसको मापने एवं प्रशमित करने के लिए उपलब्ध प्रक्रियाओं द्वारा बाधित होगी।

दूसरा मुद्दा प्रतिस्पर्धा तथा प्रतिस्पर्धात्मक औद्योगिक ढांचा बनाने के उद्देश्य एवं उसे बनाए रखने की जरूरत के बीच संभावित तालमेल से संबंधित होता है। शायद, ऐसे माहौल में जिसमें बाजार की पूर्ण संभाव्यता का दोहन किया जाना हो, दोनों ताकतें एक दूसरे के साथ गंभीर संघर्ष की स्थिति में नहीं होतीं। प्रतिस्पर्धा उस सकारात्मक बल के रूप में कार्य कर सकती है, जो अलग-अलग बैंकों को उनकी कुशलता के दायरे में फोकस करने पर विवश करती है तथा, इस प्रक्रिया में, सभी में परिचालन के एक कुशल पैमाने का लक्ष्य प्राप्त कर लेती है। परंतु, यह बाजार की स्थितियों का एक आदर्श प्रस्तुतीकरण है। सच्चाई तो यह है कि बाजार अत्यधिक खंडित होता है, जिससे कुछ खंडों में पैमाने को निवारित करने वाली प्रतिस्पर्धा की संभावनाएं बढ़ जाती हैं, जबकि दूसरे खंडों को पूरी सेवा नहीं मिल पाती। नीतिगत परिप्रेक्ष्य से यह विशेषतः वांछनीय परिणाम नहीं है। प्रोत्साहन एवं गैर-प्रोत्साहन लागू करने के लिए दलील दी जा सकती है, जिसका निःसंदेह रणनीतिक चुनावों पर, प्रतिस्पर्धा एवं पैमाने के बीच अधिक अनुकूल सहबद्धता की ओर व्यवस्था को ले जाने पर असर पड़ेगा।

तीसरा मुद्दा दूसरे से काफी घनिष्ठ संबंध रखता है, परंतु इसके कुछ अलग पहलू भी हैं। वित्तीय समावेशन नीतिगत कार्यसूची का केंद्रीय हिस्सा है। इस मुद्दे के परिप्रेक्ष्य मोटे तौर पर उक्त परिस्थितियों द्वारा चालित हैं अर्थात ग्राहकों के कुछ वर्गों को सेवा प्रदान करने में बैंकों में अंतर्निहित अनिच्छा है क्योंकि वाणिज्यिक दृष्टि से वे अर्थक्षम नहीं हैं। वित्तीय प्रणाली द्वारा इस उद्देश्य को पूरा किए जाने के लिए विनियामक अधिदेशों, अव्यक्त एवं व्यक्त सब्सिडियों तथा भौतिक प्रत्यापन का प्रयोग किया गया है। तथापि, बिल्कुल हाल की सोच तथा इस मुद्दे के साक्ष्य यह सुझाते हैं कि संगठनात्मक संरचना, मानव संसाधन एवं प्रौद्योगिकी को देखते हुए वाणिज्यिक अर्थक्षमता प्राप्त करने योग्य नहीं है। इस परिदृश्य का विकास हो रहा है, परंतु उनके एवं बुरे मॉडलों के बीच अंतर स्पष्टतर हो जाने पर, नीतिगत लिखतों को नीतिगत उद्देश्यों के साथ रणनीतिक चुनावों के संरेखण के लिए संभाव्य रूप से लिया जा सकता है।

निष्कर्षात्मक टिप्पणियां

मैं उस सरल प्रतिस्पर्धात्मक ढांचे का, जिसे निर्धारित करने का प्रयास मैंने किया है, समाहार करते हुए अपनी बात समाप्त करना चाहूंगा। रणनीतिक परिप्रेक्ष्य से, प्रतिस्पर्धात्मकता की प्राप्ति चार कारकों - पैमाने, व्याप्ति, विवेक एवं ज्ञान - को संतुलित करके की जा सकती है। सामान्य अर्थों में सभी का महत्व है, परंतु प्रत्येक संस्था को इस बात का निर्णय लेना होगा कि उनके विशिष्ट रणनीतिक उद्देश्य को देखते हुए उन्हें किस पर कितना बल देना है।

नीतिगत परिप्रेक्ष्य से, नीति संबंधी हस्तक्षेपों पर तीन कारकों का असर पड़ने की संभावना है जो रणनीतिक चयन की व्यवस्था करेंगे ताकि उन्हें नीतिगत उद्देश्यों के अनुरूप बनाया जा सके। पहला, समष्टि-आर्थिक जोखिम का मसला है। दूसरा, प्रतिस्पर्धा एवं पैमाने के बीच संभाव्य तालमेल है। तीसरा, वाणिज्यिक तौर पर अर्थक्षम रूप में वित्तीय समावेशन के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अवयवों के सही मिश्रण का पता लगाने का मुद्दा है।

मेरा विश्वास है कि आगे होने वाली दोनों पैनल चर्चाओं में तथा बैंकिंग प्रणाली में रणनीतिक विचार में यह एक उपयोगी निविष्टि होगा। मैं आयोजकों का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे यहां अपने विचार प्रकट करने का अवसर प्रदान किया।